ब्रेकिंग न्यूज़ का कालचक्र

आसीम ख़ाँ

"साम, दाम, दण्ड, भेद : जैसे भी हो बाइट लाओ।"

जी हाँ हुज़ूर, ताज्जुब मत कीजिए, ऐसे जुमले आज कल न्यूज़ रूमों में अकसर सुनने को मिलते हैं। या यूँ कहें कि ऐसे जुमले ही सुनने में आते हैं तब भी ग़लत न होगा। ख़बरिया टीवी चैनलों को आजकल बस ताज़ातरीन ब्रेकिंग न्यूज़ निकाल लाने की पड़ी है। रोज़ नहीं भी तो कम से कम हर तीसरे रोज़ एक ब्रेकिंग न्यूज़ हो ही जाया करती है। इस लेख के मार्फ़त मैं कोई नैतिक बहस नहीं करना चाहता हूँ, मैं तो केवल आज के ख़बरिया चैनलों के बारे में अपने तजुर्बे बाँटना चाहता हूँ। मालूम हो कि हिन्दुस्तान के ख़बरिया टीवी नेटवर्कों की तादाद आज की तारीख़ में पूरे उत्तर और दक्षिण अमरीका के नेटवर्कों के कुल जमा से भी ज़्यादा है। 'न्यूज़ व्यूइंग रेटिंग' में हमारा मुक़ाबला कर सकने लायक़ मुल्क गिनती के ही होंगे। मौजूदा दौर में टीवी ख़बरों के उत्पादन से जुड़े कुछेक पहलुओं और समय की वह अवधारणा जो इस उत्पादन के साथ जुड़ी हुई है पर इस लेख के ज़रिए मेरी कोशिश यह तलाशना है कि आजकल के न्यूज़ रूमों की प्रकृति क्या है, मुश्किल घड़ियों में संपादकीय फ़ैसले कैसे हुआ करते हैं, 'न्यूज़-सेंस' कैसे 'जेनरेट' होता है तथा 'एयर-टाइम' का असली रूप क्या है। परेशान न हों, टीवी माध्यम के लिए 'एयर-टाइम' को वैसे ही समझा जा सकता है जैसे अख़बार में कॉलम। एक दिन में चौबीस घंटे की न्यूज़ यानी अख़बार के चौबीस पन्ने।

आजकल की न्यूज़ मीडिया के सूचना जाल में न्यूज़ रूम एक तरह से अहम चौराहा है। स्पेस के तौर पर यहाँ 'रिपोर्टरों' और 'डेस्क' दोनों के लिए जगह होती है। सारे उपकरण और ग़ैर-संपादकीय स्टाफ़ भी न्यूज़ रूम से ही अपनी कार्यवाहियों को अंजाम देते हैं। यह न्यूज़ रूम ही है जहाँ असल समय 'प्रोसेस' होता है और 'एयर-टाइम' में बदल दिया जाता है। ख़बरों को भी अगर दूसरी जिंसों के बतौर देखा जाए तो ये समय में 'पैक' होती हैं। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि न्यूज़ रूम की ज़ुबान में ख़बरी कहानियों को "पैकेजेज़" कहते हैं। मुमकिन है कि आप में से ज़्यादातर को मेरी ज़बान अटपटी लगे, लेकिन इस मुल्क के न्यूज़ रूमों के किसी भी बाशिंदे के लिए 'पार्ट टाइम', 'रोल टाइम', 'टाइम डिले' जैसी शब्दावली कुछ इतनी आम है कि कई बार मुझे यह बात कचोटती है कि न्यूज़ रूम के बाहर अब भी समय के एक ही मायने का इस्तेमाल होता है। न्यूज़ रूम के अपने शुरुआती दिनों में

अकसर मैं ख़ुद को खोया हुआ-सा पाता था। वजह यह है कि न्यूज़ रूम के बाहर समय के साथ जुड़ी हुई विशिष्टता कई बार मेरी सोच से ओझल हो जाती थी। हैरत नहीं अगर आप में से कुछ को भी यह लेख पढ़ते हुए वैसा ही आभास हो ... वैसे मेरी कोशिश भी यही रहेगी।

न्यूज़ सेंस के मामले में इस समय-तत्व की भूमिका बड़ी अहम होती है। यहाँ ख़बरिया तजुर्बे के बरअक्स समय के सवाल पर ग़ौर करने की मेरी एक वजह इस ख़बरी मीडिया में काम की प्रकृति भी है। हफ़्ते के सातों दिन चौबीसों घंटे काम होने के चलते यहाँ बत्तियाँ कभी बंद नहीं होती। न्यूज़ रूमों में तो हर वक़्त ही कुछ न कुछ चलता रहता है, मतलब यह भी कि न्यूज़ रूम में काम करने वालों के लिए दिन और रात का फ़र्क़ अकसर मिट जाता है। दिन हो या रात आपसे एक जैसी चुस्ती की उम्मीद की जाती है। हालाँकि रात में कोई नए शो रोल नहीं होते और कंट्रोल रूम (चैनलों की भाषा में एम सी आर यानी मीडिया कंट्रोल रूम) जहाँ से कार्यक्रम प्रसारित होते हैं जो महज़ कुछेक रिपोर्टरों के अख़्तियार में होता है और अमूमन यहाँ से इस वक़्त पहले से ही प्रसारित कार्यक्रमों को ही रोल करते हैं। इस काम में उपयोग किए जाने वाले कम्प्यूटर कुछ यूँ डिज़ाइन किए गए होते हैं कि निर्देश पाते ही किसी भी समय कार्यक्रम प्रसारित कर सकते हैं।

यहाँ दिन में आठ-आठ घंटो की तीन शिफ़्टें होती हैं। पहली सुबह सात बजे, दूसरी दोपहर एक बजे तथा अंतिम रात के दस बजे शुरू होती है। इस अंतिम शिफ़्ट को 'ग्रेवयार्ड' (क़ब्रगाह) शिफ़्ट भी कहते हैं। शिफ़्टें बदलती रहती हैं, यक़ीनन टॉप-एडिटोरियल और मैनेजमेंट स्टाफ़ के लिए नहीं, उनका काम आम तौर से प्राइम-टाइम के साथ ही ख़त्म हो चुका होता है। अममून टाइम-कोड को तोड़ा नहीं जा सकता लेकिन न्यूज़ रूम की हालत में अकसर ग़ैर-मैनेजर कर्मचारियों को उनकी शिफ़्ट ख़त्म हो जाने पर भी काम करने को मजबूर होना पडता है। इसके अलावा ऐसी परिस्थितियाँ भी हुआ करती हैं जब कर्मचारी अपनी शिफ़्टों के ख़त्म हो जाने पर भी न्यूज़ रूमों में भिड़े रहते हैं। सुबह नाश्ते के साथ की ख़बरों से शुरू होकर 'शो' दिन में हर घंटे बाद 'रोल' होते हैं। आम तौर पर ये शो दिन में एक

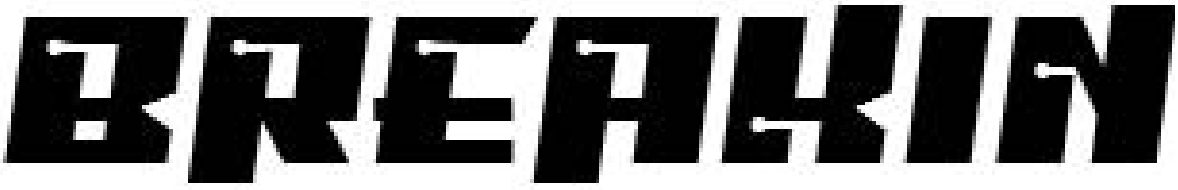

बार तब 'रिपीट' किए जाते है, जब तक अगला 'आवरली बुलेटिन' रोल नहीं होता है। मतलब यह कि एक नया शो उसी दौरान बना लिया जाए जब पहला शो और उसका रिपीट दिखाया जा रहा हो। फिर एक बार, यह समय ही है जो टीवी न्यूज़रूम में बन रही ख़बरों की गुणवत्ता को सीधे प्रभावित करता है। सारी ख़बरें जब एडिट मशीन पर काटी जाने के बाद 'मेन-सर्वर' भेजी जाती है और जहाँ से होते हुए ये एमसीआर पहुँचती हैं। यह 'प्ले व्हाइल ट्रान्सफ़र' मोड ही है जो अकसर हिफ़ाज़त में मुस्तैद रहता है। साधारण तौर से पीडब्ल्यूटी का काम ख़बरों के प्रसारण की धार को टूटने से बचाए रखना है, साथ ही इसकी भूमिका प्रॉडक्शन के समानान्तर स्टोरी को प्रसारित करना भी है।

न्यूज़ रूम के डिजिटलीकरण का एक सबसे बड़ा फ़ायदा यह हुआ है कि कैमरे से टीवी स्क्रीन तक डेटा का प्रवाह आसानी से हो जाता है। यहाँ तक कि सैटेलाइट सिग्नल्स के ज़रिए आ रहे फ़ीड के भी ख़त्म होने का इंतज़ार करने की आवश्यकता अब नहीं रह गयी है क्योंकि ये डिजिटल फ़ॉर्म में ही होते हैं। इस तरह यह एक ख़ास अर्थ में संपादकीय कार्यों को भी पुनर्परिभाषित करता है क्योंकि

कुछ मौक़ों पर जब कि इनका प्रवाह जारी रहता है, संपादक 'फुटेज' की काँट-छाँट नहीं कर रहे होते हैं। इस तरह 'कॉल-टाइम' की यह अवधि जिस दौरान संपादक किसी स्टोरी पर अपनी मुहर लगा रहे होते हैं, को भी यह कम से कमतर करता जाता है। जिसका नतीजा हमें फ़िक्सड फ़ॉर्मैट्स के रूप में नज़र आता है, एक ख़ास स्टोरी के ख़ास तरीक़े से संपादन के रूप में। एक राजनीतिक-स्टोरी एक छोटे से वॉयस ओवर से शुरू होती है, जिससे मुद्दे का जायज़ा मिल जाता है। इसके बाद एक व्यक्ति की बाइट और फिर दूसरा वॉयस ओवर, इसके बाद एक बाइट और अंत में रिपोर्टरों द्वारा कैमरे के लिए किया गया कनक्लूसिव पीस होता है। यहाँ मेरी चिंता का केन्द्र फ़ीचर/नॉन-करंट न्यूज़ स्टोरी नहीं है क्योंकि उनके प्रसारण का कोई नियत समय नहीं होता है।

अब मैं आधे घंटे के एक नियमित समाचार बुलेटिन के 'फ़ॉर्मैट' की पड़ताल करना चाहूँगा। वास्तव में ख़बरें आधे घंटे की बजाय इक्कीस से चौबीस मिनटों की हुआ करती हैं जो बहुत हद तक विज्ञापनों की समय-सीमा पर निर्भर करती हैं। हम अच्छी तरह जानते हैं कि आधे घंटे के एक शो के दौरान नौ-दस मिनट के विज्ञापन तो होते ही हैं। शो में ख़बरों के साथ-साथ एक के बाद दूसरी पहले से पैक विज्ञापन सामग्री भी प्रसारित होती रहती है। बाज़ार में एक पूरा 'रन-डाउन' बनाने के लिए कई सॉफ़्टवेयर मौजूद हैं। हमेशा सबसे पहले हेडलाइन्स हुआ करती हैं, फिर अलग-अलग स्टोरी, तब एक कमर्शियल ब्रेक और फिर एक दूसरा सेगमेंट। हर स्टोरी लगभग सौ सेकेंड की होती है और इस तरह एक सेगमेंट में चार स्टोरीज़ तक चलायी जा सकती हैं। न्यूज़ रूम में हर स्टोरी/एलिमेंट एक आदमी के ज़िम्मे होती है, यह कोई रिपोर्टर भी हो सकता है और 'डेस्क' पर बैठा आदमी भी जो वीडियो एडिटर के साथ बैठकर फुटेज़ और इसके साथ जाने वाले वॉयस ओवर को एडिट करता है। वीडियो एडिटर एडिटिंग सॉफ़्टवेयर के ज़रिए सर्वर में मौजूद वीडियो और साउंड को काट-छाँट कर एक मुकम्मल स्टोरी तैयार करता है। न्यूज़ बुलेटिनों का एक दूसरा तत्व लाइव ओबी है जिसमें न्यूज़ रूम से उपग्रह द्वारा सीधे आ रहे फ़ीड को प्रसारित किया जा सकता है।

न्यूज़ बुलेटिनों के प्रारूप का कुछ अंदाज़ा इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि बुलेटिन के तत्वों की संख्या में आजकल जो इज़ाफ़ा हुआ है उसके चलते ये अकसर एक दूसरे में पैठ करते और विभाजनों को धुँधला करते नज़र आते हैं। डीडी न्यूज़ के ज़माने में एक समय में एक एलिमेंट रोल किया जाता

था और जब वह ख़त्म हो जाता था तब ही अगला एलिमेंट रोल होता था और उस दरम्यान यदि सिग्नल टूट जाता था तो 'रुकावट के लिए खेद है' लिखी एक तख़्ती सामने रख दी जाती थी। निजी ख़बरिया चैनल भले ही इससे काफ़ी आगे निकल चुके हों लेकिन तख़्ती खो जाने की वजह से उन्हें कुछ नुक़सान भी हुआ है। आज के परिदृश्य में 'टाइम-लैग लगभग 'शून्य' सेकेंड हो गया है। मतलब यह कि छोटी-सी भी कोई ग़लती तुरंत प्रसारण में नज़र आ जाएगी बावजूद इसके कि एमसीआर लगातार फ़ीड को देखता रहता है। व्यावहारिक तौर पर वह इसमें कुछ ख़ास नहीं कर सकता है, क्योंकि किसी भी प्रतिक्रिया में कुछेक सेकेंड का समय तो लग ही जाएगा और सिग्नल में कोई भी ब्रेक तब तक दिखायी पड़ता रहेगा जब तक कि उसे दुबारा दुरुस्त न कर दिया जाए।

'सामग्री' के इस बहाव की 'एयर टाइम' के ज़रिए एडिटरों द्वारा कैसे मध्यस्थता की जाती है, अब

इस पर मैं कुछ बातें कहना चाहूँगा। मुमकिन है कि किसी ख़ास समय में देश के अलग-अलग हिस्सों मे कई घटनाएँ हो रही होती हैं। समय के हिसाब से देखा जाए तो टेलीविज़न न्यूज़ की सबसे बड़ी घटना टीवी अपने एकमात्र स्क्रीन पर 'एयर-टाइम' के दौरान अनेक 'रीयल-टाइमों' में से किसी एक को ही दिखा सकता है। टेलीविज़न न्यूज़ का इस सवाल पर एक अनकहा नियम होता है। सबसे 'ताज़ा-तरीन और सबसे ख़ास' को सबसे ज़्यादा अहमियत दी जाती है। यह संपादको की जवाबदेही बन जाती है। लेकिन अकसर चुनाव आसान नहीं होता। संपादकों के बीच इस बात को लेकर मतभेद दिखायी पड़ता है कि कब और कौन सी स्टोरी चैनल सीधे प्रसारित करेगा। किंतु पिछले कुछ साल के दौरान एक नयी चतुर शैली के बढ़ते प्रयोग से इस कशमकश के ख़ात्मे की गुंजाइश बनी है। 'स्प्लिट स्क्रीन फ़ॉर्मैट' का इस्तेमाल ऐसी स्थितियों में होता है जब दो या दो से अधिक 'रियल टाइम इवेंट्स' को एक ही 'एयर टाइम' में प्रसारित करना हो। किंतु न्यूज़ चैनलों के बीच यह एक प्रतिष्ठा का सवाल बन गया है कि कौन एक साथ ज़्यादा से ज़्यादा विंडोज़ दिखा सकता है। मुझे आज भी यक़ीन नहीं होता कि पिछले आम चुनावों के दौरान एक चैनल अपनी स्क्रीन पर छत्तीस खिड़कियाँ दिखाने की हद तक कैसे चला गया। यह रचनात्मक युक्ति दर्शकों को अकसर भौंचक कर देती है क्योंकि दोनों घटनाओं में से कोई भी इस तरह से ठीक ढंग से कवर नहीं हो पाती है। लेकिन इस तरह कम से कम 'रियल-टाइम' बनाम एक 'एयर-टाइम' द्वन्द्व को फ़िलहाल हल कर लिया जाता है।

टीवी चैनलों की बाढ़ में यही वो मौक़ा है जब अपने को भीड़ से अलग दिखाने ही जद्दोजहद सबसे ज़्यादा होती है। मिसाल के तौर पर हिन्दी के एक चैनल ने अपने प्राइम-टाइम बुलेटिन को 'ब्रेकिंग न्यूज़' नाम दिया है। आधे घंटे के बुलेटिन के दौरान इस शो का नाम 'ब्रेकिंग न्यूज़' पर्दे पर चलता रहता है। यह एक मायूसी भरी कोशिश ज़्यादा जान पडती है और कोई भी दर्शक इसे आसानी से पकड़ सकता है। मगर टीवी चैनलों के तरकश में इससे कहीं बेहतर तीर भी मौजूद हैं। कई-विंडोज़ तथा लाइव-प्रसारण ऐसे ही कुछ उपयोगी तीर हैं। इन तीरों की मार से कोई भी दर्शक बच नहीं सकता है। लाइव तस्वीरें पाना हर बार मुमकिन नहीं होता है, ख़ासकर उन परिस्थितियों में जब न्यूज़ तो आ गयी हो लेकिन पिक्चर अभी न पहुँच पायी हो। ऐसी स्थिति में टीवी स्क्रीन को एक बड़ी और एक छोटी 'खिड़की' में बाँट दिया जाता है। बड़े फ़्रेम में जहाँ घटना से संबंधित 'आर्काइव' की कोई पिक्चर चलती रहती है वहीं छोटी स्क्रीन में एक रिपोर्टर या 'फ़ोनर-प्लेट रिपोर्टाज़' को आवाज़ के साथ दिखायी जाती है। इस दौरान स्क्रीन के कोने में 'लाइव' टैग प्रमुखता से टंगा रहता है और यह इसलिए नहीं कि तस्वीरें लाइव हैं बल्कि इसलिए कि रिपोर्टर की आवाज़ सीधे प्रसारित हो रही होती है। परिणामतः दर्शक इस पूरे प्रयास को यह मानकर देखता रहता है जैसे वह स्वयं एक 'लाइव' घटना का गवाह हो। संक्षेप में, यहाँ मैं इस तथ्य पर ज़ोर देना चाहूँगा कि परेशानी तब आती है जब न्यूज़ वास्तव में होती है। मेरा मानना है कि टीवी न्यूज़ का लक्ष्य आकस्मिकता पैदा करना होता है। न्यूज़ रूम की वास्तविक उपज आकस्मिकता के ज़रिए महत्त्व पैदा करने का भाव इसकी असल ताक़त होती है। न्यूज़ रूम का प्रयास जितना भारी होगा आकस्मिकता भी उतनी ही बड़ी होगी। आकस्मिकता बनायी जाती है और किसी भी घटना में इसका पुट देने के तयशुदा 'फ़ॉर्मैट' हैं। इनमें सबसे पहला तो यह है कि घटना होने के साथ ही जल्द से जल्द न्यूज़ ब्रेक को अपडेट किया जाए। इसी दौरान न्यूज़ रूम घटना से जुड़े अन्य तत्व इकट्ठा करता है। मिसाल के लिए लोगों की प्रतिक्रियाएँ, घटना विशेष से पहले की तस्वीरें और जो कुछ भी हुआ हो उसके 'ग्राफ़िक-डिटेल्स'।

हक़ीक़त में कोई घटना इतनी तेज़ी से होती है कि सामान्यतयः जब तक टीवी कैमरा 'लोकेशन' तक पहुँचता है वहाँ काफ़ी कुछ घट चुका होता है। इसका सबसे बेहतरीन उदाहरण किसी शहर में बम-ब्लास्ट जैसी घटना का कवरेज है। बम फटने के चंद मिनट बाद से घंटे भर में घायलों और मारे गए लोगों को संभालने का काम कर लिया जाता है। चैनल वालों को घटना स्थ्ल पर पहुँचने में दस

मिनट भी लग सकते हैं, जैसा कि दिल्ली बम-ब्लास्ट की एक घटना में हुआ। कई बार तो टीवी चैनल वालों को मौक़ा-ए-वारदात पर पहुँचने में घंटा भर भी लग जाता है जैसा कि मालेगाँव ब्लास्ट के दौरान देखने में आया। इस अवधि के दौरान पूरे न्यूज़ रूम का यह 'कर्त्तव्य' बन जाता है कि वह दर्शकों के ज़हन में न्यूज़ को हर हाल में ज़िन्दा रखे। न्यूज़ ब्रेक के साथ ही संबंधित रिपोर्ट (या रिपोर्टर की आवाज़) प्रसारित होती है और घटना की रिपोर्ट में घटना स्थल की पुरानी तस्वीरें पेश की जाती हैं। पहली तस्वीर आते ही उसे रिपोर्टर के विस्तृत विश्लेषणों के साथ स्क्रीन पर पेश किया जाता है, जो कैमरा जत्थे और ओबी वैन के साथ लोकेशन पर पहुँच चुका होता है। इसके बाद पहली तस्वीरें जो आम तौर से घटना-स्थल के शॉट्स हुआ करती हैं, के 'रिपीट्स' या 'लूप्स' दिखाए जाते हैं। इस दौरान 'ऐंकर' और 'रिपोर्टर' घटना का ज़िक्र बार-बार दोहराते रहते हैं जिससे हर उस नए दर्शक को घटना का अंदाज़ा हो जाए जिसने देर से न्यूज़ देखनी शुरू की हो। इन स्थितियों के वर्णन से मेरी मुराद 'न्यूज़' और 'टाइम' के संबंध के एक दूसरे पक्ष पर ज़ोर देना है। तब भी जबकि वास्तविक घटना बहुत पहले घट चुकी होती है इस घटना के प्रत्यक्षदर्शियों के अनेकानेक वर्णनों को आधार बनाकर "न्यूज़" जारी रहती है। यहाँ मुझे कुछ ऐसा लगता है मानो न्यूज़ रूम में बैठे संपादकों की भूमिका यह तय करना है कि समय इसी 'वृत्तीय या चक्रीय' रूप में चलता रहे। यह सब दर्शकों को समय के इस चक्रव्यूह में फाँसे रखने के लिए किया जा रहा होता है। बम-ब्लास्ट के एक न्यूज़ ब्रेक में कई घंटो तक ख़त्म न होने वाले सैकड़ों चक्र हो सकते हैं। ज़ाहिर है कि एक चैनल और दूसरे चैनल के बीच इस रफ़्तार की पिच में फ़र्क़ हो सकता है। मिसाल के तौर पर एक ख़ासा लोकप्रिय हिन्दी चैनल अकसर चक्रयुक्ति का इस्तेमाल करता है जिसमें यह शॉट्स के एक ख़ास सिक्वेंस को एक के बाद एक कम से कम दस बार दोहराता है। इस तरह न्यूज़ ब्रेक एक तरह से खुद गोल-गोल घूमता समय का फ्रेम है। यह टीवी न्यूज़ की ख़ासियत है, किसी घटना की रिपोर्टिंग में आकस्मिकता पैदा करने की कोशिशों को देखने का बस एक नज़रिया है। किसी ने कहा है कि 'पत्रकारिता जल्दबाज़ी का साहित्य' है, पर मौजूदा न्यूज़-रूम्स ने इस कथन की कुछ और ही व्याख्या कर डाली है। मेरे विचार से पत्रकारिता की अपनी शैली होती है, इसका रफ़्तार से क्या लेना-देना!

अनुवाद: कमल कुमार मिश्रा